

बंसोड़, बाँस और लोकतंत्र

रमाशंकर सिंह

बाँस कय खटिया
बाँस कय झपली
बाँस उड़नखटोला हो
न चाही हमन को महल दुमहला
न चाही पीत पटोला हो
जोड़त जाड़त तन जरि जइहैं
बचिहैं टिखटी बाँस रे।

(बाँस की खाट है, बाँस की टोकरी है, बाँस का ही उड़नखटोला है, हमें महल दुमहले नहीं चाहिए, हमें पीले रंग का पटोला वस्त्र भी नहीं चहिए, चीज़ों को इकट्ठा करने में ही शरीर जल जाएगा, केवल टिखटी का बाँस बचेगा।)

—बंसोड़ समुदाय की सुशीला द्वारा सुनाया गया गीत

भारत में औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक काल के दौरान जिन अनुसूचित जातियों की गणना की गयी थी उनमें कई जातियाँ वनों में रहती थीं या वनोपज से जीविका अर्जित करती थीं। उत्तर प्रदेश में कम से कम चार जातियाँ— धरकार, बंसोड़, बंसफोर, और डोम ऐसी जातियाँ हैं जिनका जीवन बाँस पर निर्भर करता है। कुछ समय पहले तक इन जातियों को बाँस आसानी से मिल जाता था, इसलिए उनके सामने जीविका का संकट इतना गहरा नहीं था। लेकिन आज इन जातियों के सामने जीविका ही नहीं बल्कि अस्तित्व का संकट भी खड़ा हो गया है। यह संकट यकायक उत्पन्न नहीं हुआ है। इन समुदायों की घोर ग़रीबी और वंचना के सूत्र राज्य के ढाँचे और उसकी परियोजनाओं में ढूँढे जाने चाहिए। प्रस्तुत लेख में यही समझने का प्रयास किया गया है कि बाँस के इन कारीगरों की वर्तमान नियति गढ़ने में जाति-विमर्श, लोकतंत्र तथा विकास की बृहत्तर संरचनाओं की क्या भूमिका रही है।

I

उत्तर प्रदेश में बाँस का काम करने वाले समुदाय : जीवन और परिस्थितियाँ

कभी अर्थशास्त्री टी.एन. श्रीनिवासन ने कहा था कि यदि भारत में कोई व्यक्ति ग़रीब है तो ज़्यादा सम्भावना इसी बात की है कि वह ग्रामीण क्षेत्र में रहता हो; अनुसूचित जाति या जनजाति या सामाजिक रूप से भेदभाव के शिकार समूहों का सदस्य हो; कुपोषित, बीमार और बुरे स्वास्थ्य का शिकार हो और बहुत सम्भावना है कि वह बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों का निवासी हो।[1]

जनसंख्या की दृष्टि से उत्तर प्रदेश देश का सबसे बड़ा राज्य है और इस प्रदेश में अनुसूचित जातियों या दलितों की आबादी उसकी कुल आबादी की बीस प्रतिशत है।[2] संविधान (अनुसूचित जाति आदेश, 1950) के भाग-3 के नियम और आदेश के तहत वर्तमान उत्तर प्रदेश में सूचीबद्ध अनुसूचित जातियों की संख्या 66 है।

इन्हीं में से एक समुदाय बंसफोर बेनबंसी बंसफोर के नाम से भी जाना जाता है। बंसफोर स्वयं को डोमों का एक उपसमुदाय मानते हैं। उत्तर प्रदेश में इनकी आबादी मुख्यत: आज़मगढ़, गोरखपुर, ग़ाज़ीपुर, वाराणसी और बलिया में पाई जाती है। 1981 की जनगणना के अनुसार उनकी कुल संख्या 18,530 है।[3] बाँस का काम करने वाले समुदायों में बंसोड़ सबसे प्रमुख समुदाय माना जाता है। इस समुदाय को बंसोड़, बसार, बंसफोर, बंसोड़ा, बसकर और बुरूड के नाम से भी जाना जाता है। क्रुक का मानना था कि बंसोड़ केवल बुंदेलखण्ड क्षेत्र में पाए जाते हैं। क्रुक उन्हें डोमों की एक उपजाति मानते हैं।[4] 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में उनकी संख्या 83,386 है।[5] धरकार बहराइच, गोण्डा, बस्ती, गोरखपुर, आज़मगढ़, फ़ैज़ाबाद, वाराणसी और इलाहाबाद में पाए जाते हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार उनकी संख्या 58, 711 है। इनकी चार उपजातियाँ हैं— बेंतवंसी, लकड़िहारा, खरूश और बंसफोर। इनका मुख्य कार्य बाँस से विभिन्न वस्तुएँ बनाना है।[6] उत्तर प्रदेश में डोम, डोमरा, डोमहरा, डुमना और डोम्बो के नाम से भी जाने जाते हैं। पारम्परिक रूप से वे घाघरा नदी के

---

[1] रामचंद्र गुहा (2007), *इण्डिया आफ़्टर गाँधी: द हिस्ट्री ऑफ़ वर्ल्डस् लार्जेस्ट डेमॉक्रेसी,* पिकाडोर : 711.

[2] *दैनिक हिंदुस्तान,* 30 मई, 2013.

[3] के. एस. सिंह (1995), *द शेड्यूल्ड कास्ट्स,* एंथ्रोपॉलिजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया एवम् ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस , दिल्ली : 137.

[4] वही : 167.

[5] वही : 167.

[6] वही : 437.

उत्तरी इलाक़ों में पाए जाते हैं। चूँकि उन्हें डोम राजा बेण या वेन की संतान माना जाता है, इसीलिए उनके एक उप-समुदाय बेनबंसी का नाम भी पड़ा है। डोम मुख्यतः वाराणसी, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, आज़मगढ़, ग़ाज़ीपुर, बलिया, देवरिया, गोरखपुर, इलाहाबाद, प्रतापगढ़, फ़ैज़ाबाद और बस्ती में पाए जाते हैं। 1981 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश में उनकी संख्या 55,590 है।[7]

हमने अपने सर्वेक्षण में इलाहाबाद ज़िले में रहने वाले धरकारों को शामिल किया है। इस अध्ययन में ज़िला मुख्यालय, क़स्बों और दो गाँवों की दो बस्तियों को लिया गया है। हम इस अध्ययन की शुरुआत इलाहाबाद ज़िला मुख्यालय की एक बस्ती मिंटोपार्क, कीडगंज से करेंगे। मिंटोपार्क इलाहाबाद ज़िले में एक महत्त्वपूर्ण औपनिवेशिक मुक़ाम है।[8] मिंटोपार्क से सटे हुए पुल के ठीक पास सड़क से लगी लगभग बीस झोपड़ियाँ हैं। इनमें जौनपुर से कई पीढ़ी पहले चले आये बेनबंसी धरकार रहते हैं। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से धरकार समाज के लगभग सबसे निचले पायदान पर स्थित हैं। इनकी झोपड़ियाँ बाँस, कच्ची ईंटों और प्लास्टिक के तिरपालों से बनी हैं। समुदाय के लोग भोजन बनाने, सोने और आराम करने के अलावा सारे दैनिक कार्य बाहर ही निपटाते हैं। पीने और दैनिक उपभोग के अन्य कार्यों के लिए जल का एकमात्र स्रोत नगर निगम की पाइप लाइन है। हमने पच्चीस बच्चों से बात की जिनमें मात्र नौ बच्चे स्कूल जा रहे थे। पहली ही नज़र में देख कर लगता था कि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। इस बस्ती के उम्रदराज़ धरकारों से पूछने पर यह बात सामने आयी कि उनका पहला जत्था लगभग 40 वर्ष पहले जौनपुर के डंडहिया से कीडगंज पहुँचा था। इस जत्थे में केवल पुरुष थे। बाद में महिलाएँ और बच्चे भी चले आये। ये लोग धीरे-धीरे डंडहिया से तो उजड़ रहे थे लेकिन किसी अन्य स्थान पर जम नहीं पा रहे थे। डंडहिया जौनपुर का एक छोटा सा क़स्बा है जो रेलवे लाइन के ज़रिये इलाहाबाद से जुड़ा है। इस बस्ती में रहने वाले 65 वर्षीय कैलाशनाथ बताते हैं कि जौनपुर से इलाहाबाद आने वाली ऐसी ही किसी ट्रेन से डंडहिया के धरकारों का एक जत्था 1960 के दशक में इलाहाबाद चला आया था। जौनपुर इलाहाबाद के नज़दीक था और यहाँ उन्हें कुछ सम्भावनाएँ दीख रही थीं तो इलाहाबाद चले आये।[9]

II

बंसोड़ : ऐतिहासिक आख्यान से औपनिवेशिक वर्गीकरण तक

बंसोड़ या बंसफोर नाम की जाति का उल्लेख उत्तर वैदिक और पालि-प्राकृत ग्रंथों में तो नहीं मिलता लेकिन जातियों के विकास और उनके नामकरण की प्रक्रिया को ध्यान से देखें तो कुछ अनुमानों के क़रीब पहुँचा जा सकता है। ऋग्वैदिक समाज में एक बड़ा वर्ग शिल्पियों (कारू) और श्रमिकों— कर्मार का भी था जिसमें बुनकर (वाय), तक्षण (बढ़ई), बाँस का काम करने वाले कंटकीकार, बेंत की टोकरी बनाने वाले विदलकार, धनुष की प्रत्यंचा और चमड़े के दस्ताने बनाने वाले चर्मकार शामिल थे।[10] आधुनिक औद्योगिक प्रगति से पूर्व के समाजों में पेशे की विशेषज्ञता में उपलब्ध सामग्री का भी योगदान होता था। आरम्भिक उत्तर भारत (लगभग 800 ई. पूर्व के बाद) के ग्रंथों में वंसालवेनु या बाँस (बंबूसा अरूंडिनासिया) का उल्लेख मिलने लगता है। इन ग्रंथों में जिन क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है वहाँ पेशे पर आधारित जाति प्रथा मज़बूत हो रही थी।[11] इस समय हमें ऐसी कई जातियों के

---

[7] वही : 486-88.

[8] शालिग्राम श्रीवास्तव (2008) *प्रयाग प्रदीप,* हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद : 247.

[9] कीडगंज में 20 से 28 अगस्त, 2011 में किया गया फ़ील्डवर्क.

[10] राधाकुमुद मुखर्जी (2004), *हिंदू सभ्यता,* पुनर्मुद्रित, अनुवाद : वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 110.

[11] रणवीर चक्रवर्ती (2012), *भारतीय इतिहास का आदिकाल* , ओरिएण्ट-ब्लैकस्वान, हैदराबाद. इसके अतिरिक्त यह भी देखिए- *शतपथ ब्राह्मण,* 1.1.49.19 (1964, पुनर्मुद्रित), संपा: ए. वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ 96, वाराणसी; *आश्वलायन गृहसूत्र,* नारायण की टीका सहित, अनुवाद और परिचय: ए.एन. शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स; *गृहसूत्राज़,* अनुवाद: एच. ओल्डेनबर्ग (1981, पुनर्मुद्रित), मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

नाम मिलते हैं जिनकी जीविका बाँस पर आधारित थी। इस काल में वनस्पति, इससे जुड़ी शिल्पगत विशेषज्ञता और जाति के निर्धारण में एक स्पष्ट अंतर्संबंध उभरता दिखता है। रामायण में बाँस की चटाई और सूप बनाने वालों का उल्लेख मिलता है।[12] विनय ग्रंथों में बुद्ध द्वारा बाँस की पत्तियों से बने जूतों को बौद्ध भिक्षुओं द्वारा पहने जाने को एक प्रशंसनीय कार्य माना गया है।[13] *महापण्ण* जातक से ज्ञात होता है कि एक गृहस्थ पिता-पुत्र ने बाँस और काठ से बना एक घर बुद्ध को दान में दिया था।[14] उत्तर-वैदिक काल में बाँस का काम करने वालों को विदलकार कहा जाता था।[15] उत्तर वैदिक ग्रंथ *वाजसनेयी संहिता* में विभिन्न पेशों की सूची मिलती है। वहाँ विदलकारों की गिनती एक महत्त्वपूर्ण पेशे के रूप में की गयी है।[16] विदलकार शब्द की इनके नामकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह 'विदल' और 'कार' से बना है। विदल का अर्थ होता है किसी वस्तु को तोड़ना, फाड़ना या चीरना। 'कार' प्रत्यय का सामान्य अर्थ करने वाला है जैसे चित्रकर, लेखाकार आदि। इस प्रकार बाँस को तोड़कर या चीरकर उससे वस्तुएँ बनाने वाले लोग विदलकार कहे गये। मोनियर विलियम्स द्वारा रचित संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में विदल शब्द का अर्थ दिया गया है— टू ब्रेक ऑर बर्स्ट असंडर — तोड़ना अथवा अलग-अलग टुकड़े करना।[17] विद्याधर वामन आप्टे के *कोश* में विदल के इसी अर्थ के साथ-साथ एक और अर्थ 'बाँस की टोकरी' भी दिया गया है।[18] *अमरकोश* में भी इसी से मिलता-जुलता अर्थ दिया गया है। वहाँ विदलम् शब्द का अर्थ बाँस की पत्ती से बना विशेष पात्र बताया गया है।[19] तो ऐतिहासिक कालों में बाँस के काम से जुड़ी जातियों का नामकरण इस प्रकार होता रहा है। इसे एक उदाहरण से और समझा जा सकता है। *महाभाष्य* में वरूड[20] जाति का उल्लेख मिलता है जिनका काम बाँस के उत्पाद तैयार करना था। मोनियर विलियम्स के उपर्युक्त शब्दकोश में वरूडों का काम बाँस तोड़ना बताया गया है।[21] *मिताक्षरा* में वरूड जाति की स्त्री का उल्लेख है।[22] वरूडों को अत्रि ने सात अंत्यज्यों की श्रेणी में गिना है। इस श्रेणी में छह अन्यों के नाम इस प्रकार हैं— रजक, चर्मकार, नट, कैवर्त, मेद और भिल्ल।[23] *मनुस्मृति* में बाँस का काम करने वाले लोगों को सीधे वेण ही कहा गया है। वेण बाँस का संस्कृतनिष्ठ नाम है। ऐसा सम्भवत: इसलिए किया गया होगा कि वेण कहने से स्पष्ट हो जाए कि यह जाति बाँस का काम करती है। इन्हें वैदेहक पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री की संतान के रूप में वर्णित किया गया है।[24] यह समुदाय बाँस से दैनिक उपयोग की वस्तुएँ बनाता था। इसके अतिरिक्त ये कांस एवं मुरूज जैसे वाद्ययंत्र बजाते थे। आज भी शादी-विवाह के अवसर पर बाजा बजाने वाले

---

[12] *रामायण ऑफ़ वाल्मीकि*, अयोध्याकाण्ड, 80.3 (2008), अनुवाद: शेल्डन पोलॉक, न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

[13] *महावग्ग* 7, 2-3.

[14] जयशंकर मिश्रा (2006), *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,* 10वाँ पुनर्मुद्रण, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना : 45

[15] *तैत्तरीय संहिता* 4.5.1, अनुवाद : ए.बी. कीथ, 2 भागों में, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

[16] *वाजसनेयी संहिता,* 30.8.

[17] मोनियर विलियम्स (2006), *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी : इटीमॉलिजिकॅली ऐंड फ़िलोलाजिकॅली अरैंज्ड विद स्पेशल रेफ़रेंस टू काग्नेट. इण्डो-युरोपियन लैंग्वेजेज़,* मनोहर पब्लिशर्स, नयी दिल्ली : 965.

[18] विद्याधर वामन आप्टे (1986), *अ कंसाइज़ संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,* ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली : 981.

[19] *अमरकोश* (1995), सम्पा: मन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्भा विद्या भवन : 302.

[20] वरूड जाति के लोग शहरों में झाड़ू बना कर बेचते हैं. उनकी भाषा-बोली में द्रविड़ भाषाओं के अंश मिलते हैं. इस जानकारी के लिए मैं भाषाशास्त्री जी.एन. देवी का आभारी हूँ. इस समुदाय की जनसंख्या तथा भौगोलिक वितरण के बारे में बहुत कम सूचनाएँ उपलब्ध हैं. इस क्षेत्र में नये शोध की ज़रूरत है.

[21] मोनियर विलियम्स (2006) : 923.

[22] वही.

[23] पी.वी. काणे (1992), *धर्मशास्त्रों का इतिहास,* पहला भाग, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ : 125.

[24] *मनुस्मृति,* 10.19. जब तक निर्दिष्ट न हो तब तक मनुस्मृति के लिए हमने पैट्रिक ओलिवल(2005)(सम्पा.), *मनुज कोड ऑफ़ लॉ* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, से संदर्भ लिए हैं जबकि धर्मसूत्रों के संदर्भ पैट्रिक ओलिवल (1999) *धर्मसूत्राज़: द कोड ऑफ़ एंशियेण्ट इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली से लिए गये हैं.



समूहों में एक बड़ी संख्या इन जातियों से आने वाले लोगों की होती है। वास्तव में *मनुस्मृति* मौर्योत्तर काल में भारतीय समाज में हो रहे व्यापक परिवर्तनों को एक सैद्धांतिक आधार देने का प्रयास करती है जब कई नयी-नयी जातियों का नामकरण हो रहा था और उन्हें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की संरचना में अंत:स्थापित किया जा रहा था। जिन वैदेहक[25] और अम्बष्ठ[26] से वेणों की उत्पत्ति बताई गयी है वे भी वास्तव में स्वयं *मनुस्मृति* के अनुसार संकरवर्ण में परिगणित जातियाँ थीं।[27] इस प्रकार *मनुस्मृति* दो संकरवर्ण जातियों के समागम से तीसरे संकरवर्ण की उत्पत्ति की चर्चा करती है।

धरकार, बंसोड़, बंसफोर, और डोम ऐसी जातियाँ हैं जिनका जीवन बाँस पर निर्भर करता है। ... आज इन जातियों के सामने जीविका ही नहीं बल्कि अस्तित्व का संकट भी खड़ा हो गया है। ... इन समुदायों की घोर ग़रीबी और वंचना के सूत्र राज्य के ढाँचे और उसकी परियोजनाओं में ढूँढे जाने चाहिए।

मौर्योत्तर काल के बाद जातियों के बहुगुणन की प्रक्रिया रुकी तो नहीं, लेकिन उसकी गति बहुत धीमी हो गयी। पुराणों में वर्णित समाज-व्यवस्था वास्तव में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ स्मृतियों में वर्णित व्यवस्था से मेल खाती है।[28] ग्यारहवीं शताब्दी के अरब यात्री अल-बरूनी का भारत-संबंधी वर्णन मुख्यत: स्मृतियों और पुराणों पर आधारित है।[29] वह बाँस का काम करने वाले समूहों को केवल टोकरीसाज़ कहता है, पर उनकी किसी जाति विशेष का उल्लेख नहीं करता है। यह एक रोचक बात है कि अल-बरूनी के बहुत बाद अक़बर के समय में जब अबुल फ़ज़ल ने *आइन-ए-अ.क़बरी* लिखी तो उन्होंने भी अल-बरूनी की *क़िताब-उल-हिंद* को ही अपना आधार बनाया। *आइन* में भी पेशों और जातियों के नामों में बहुत परिवर्तन नहीं हैं। *अ.क़बरनामा* में भारत की हिंदू जाति व्यवस्था का वर्णन जिस रूप में आता है उस पर *मनुस्मृति* के अध्याय दस के संख्या एक से लेकर पचास तक श्लोकों की छाया दिखाई देती है।[30]

---

[25] *मनुस्मृति,* 10.11, 13, 17, 19, 26, 33, 36.

[26] *मनुस्मृति,* 10.8 , 13, 15, 19, 47.

[27] *मनुस्मृति,* 10.41.

[28] वेत्तम मनी (2002), *पुराणिक ऐनसाइक्लोपीडिया,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली; आर.सी. हाजरा(1982), *स्टडीज़ इन द पुराणिक रेकर्ड्स ऑन हिंदू राइट्स ऐंड कस्टम्स,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

[29] क़यामुद्दीन अहमद की भूमिका तथा टिप्पणियों सहित सम्पादित (2003), तीसरी आवृत्ति, *भारत: अल-बरूनी,* ई.सी. सखाऊ के अंग्रेज़ी अनुवाद अलबेरूनीज़ इण्डिया के संक्षिप्त संस्करण का हिंदी अनुवाद, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

[30] *आइन-ए-अ.क़बरी* (1989), अनुवाद: एच. ब्लाख़मान, तीसरा खण्ड, लो प्राइस पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली : 128, इसी के साथ देखिए— पैट्रिक ओलिवल(2005) (सम्पा.) *मनुज कोड ऑफ़ लॉ,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

हेनरी लुइस मॉर्गन के प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि इतिहास के आरम्भिक दौर में संगठित समुदायों में प्राकृतिक संसाधनों के अधिकार को लेकर एक धारणा विद्यमान थी। अधिकारों का यह दृष्टिकोण उनके सामूहिक जीवन से उपजा था। ये सामूहिक संसाधन समाज में सबके लिए समान रूप से उपलब्ध थे।[31] इन्हें सामुदायिक अधिकारों की संज्ञा दी जा सकती है। सामुदायिक अधिकारों का आशय ऐसे अधिकारों से है जो व्यक्ति को किसी समूह का सदस्य होने के कारण भौतिक वस्तुओं, परिसम्पत्तियों या सेवाओं के रूप में प्राप्त होते हैं।[32] बहुप्रचलित *ऑक्सफ़र्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी* में सामुदायिक अधिकार से संबंधित कोई शब्द नहीं मिलता— जब तक कि हम अपनी सुविधा के लिए समुदाय यानी कम्युनिटी और अधिकार यानी राइट से संबंधित शब्दों के योग से सामुदायिक अधिकार पद-बंध न बना लें।[33] वास्तव में अधिकार एक ऐसा विषय है जो सीधे राज्य की उत्पत्ति से जुड़ा हुआ है। राज्य मनुष्यों के समूहों को अपनी प्रजा बनाता है और उन्हें कुछ अधिकार देता है। उनकी सुरक्षा की ज़िम्मेदारी लेता है और इस प्रक्रिया में उनके दैनिक जीवन को अपने परिक्षेत्र में खींच लेता है।[34]

राज्य निर्माण की प्रक्रियाओं के अंतर्गत आरम्भिक भारत में भी विभिन्न वर्ग राज्य की संरचनाओं के अधीनस्थ होते गये।[35] यह अधीनीकरण सबसे नीचे की जातियों में ज़्यादा दृष्टिगोचर होता है क्योंकि उन्हें न केवल उत्पादक कार्यों में संलग्न कर दिया गया बल्कि शारीरिक श्रम को मानसिक श्रम से हीनतर घोषित कर दिया गया।[36] इस थोपी गयी हीनता ने उनके ऊपर बहुस्तरीय विभेदों को लाद दिया। एक विभेदीकृत संसार में वे उन प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित होते गये जिसे राज्य ने अपने कर-परिक्षेत्र में शामिल नहीं किया था। सामाजिक पदानुक्रम में नीची समझी जाने वाली जातियाँ संसाधनों की खोज और उनसे जीविका चलाने का उपक्रम करती रहीं। संसाधन जब मूल्यवान साबित हुए तो राज्य उन पर कर लगाने लगा।[37] राज्य की इस कार्रवाई को धर्मशास्त्रकारों और दार्शनिकों ने एक राजनीतिक वैधता और सम्मति देने का प्रयास भी किया।[38] इस प्रक्रिया के कारण वन और उसमें रहने वाले समुदाय भी राज्य के प्रभाव-क्षेत्र में आने लगे। राज्य की सर्वव्यापी और स्पष्ट अभिव्यक्ति मौर्य राज्य की अवधारणा में देखी जा सकती है। मौर्य साम्राज्य ने एक केंद्रीकृत शासन प्रणाली को जन्म दिया। इस समय वनों में रहने वाले समुदाय उसी सीमा तक अपने विशेषाधिकारों का उपयोग कर सकते थे जिस सीमा तक ये अधिकार राज्य की सत्ता तथा उसकी आय के स्रोतों व अन्य अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करते थे।[39]

---

[31] हेनरी लुई मॉर्गन (2005), *एंशियेण्ट सोसायटी,* ट्रांजैक्शन, न्यु जर्सी : 500-501.

[32] *वेब्सट्र्स न्यू डिक्शनरी ऐंड थिसारस* (1995), यूएसए प्रोमोशनल्स बुक सेल्स इंक : 76.

[33] *ऑक्सफ़र्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी* (2010), आठवाँ संस्करण, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[34] रामशरण शर्मा (2007), *प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवम् संस्थाएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 63-77.

[35] उपिंदर सिंह (2007), *अ हिस्ट्री ऑफ़ एंशियेण्ट ऐंड अर्ली मिडीवल इण्डिया: फ्रॉम स्टोन ऐज टू द ट्वेल्थ सेंचुरी* , पियर्सन-लांगमैन, नयी दिल्ली : 257-319.

[36] श्रीनिवास सरदेसाई (2009), *भारतीय दर्शन: वैचारिक और सामाजिक संघर्ष* , अनुवाद: गुणाकर मुले, संवाद प्रकाशन, मेरठ : 61-62.

[37] संसाधन मूल्यवान होने के साथ ही किस प्रकार राज्य के विनियमों और क़ानूनों की परिधि में आ जाते हैं— इसका उदाहरण नदियों से निकलने वाली बालू है. इलाहाबाद ज़िले में यमुना से निकलने वाली बालू पर अधिकार करने के लिए मल्लाहों तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक समूहों के बीच संघर्ष हुए हैं. ऐसे मामलों में इलाहाबाद के उच्च न्यायालय तक को हस्तक्षेप करना पड़ा है. देखें- Chandrika Prasad Nishad vs State Of U.P. And Others, Writ Petition No. 5018 (M/S) of 2005 with Wit Petition No. 5153 (M/S) of 2005 Chandrika Prasad Nishad and Bhola Nath Nishad vs State of U.P. and others के साथ यूपी माइनर ऐंड मिनरल (कंसेशंस रूल) 1963 के नियम 9(2) भी देखिए.

[38] रामशरण शर्मा(1992), *प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवम् संस्थाएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली. इसमें 'गोपति से भूपति: राजा की बदलती हुई स्थिति का सिंहावलोकन' द्रष्टव्य है. शर्मा बताते हैं कि राजा किस प्रकार अलग-अलग समय पर खेती योग्य भूमि पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करने में सफल रहा और जिसे कात्यायन से लेकर शबरस्वामी की टीकाओं में एक नैतिक वैधता प्राप्त हुई.

[39] रोमिला थापर (1997,2010), *अशोका ऐंड द डिक्लाइन ऑफ़ द मौर्याज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 96.

यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना उपयोगी होगा कि बाँस का काम करने वाली जातियों ने अपने लिए ये नाम स्वयं चुने या उनका यह नामकरण दूसरे प्रभावशाली समूहों द्वारा किया गया। इस संबंध में मैं पूर्वोक्त पंक्तियों में विदलकार शब्द के अर्थ की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। जिस प्रकार विदलकार से बाँस का काम करने वाली जातियाँ विकसित हुई हैं, उसी प्रकार इन जातियों के नामों के अर्थ भी विकसित हुए हैं। बंसफोर शब्द का अर्थ है बाँस को तोड़ने या फोड़ने वाला। बंसोड़ भी उसी का एक अपभ्रंश है। इसी प्रकार धरकार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- 'धर' और 'कार'। 'धर' का अर्थ रस्सी होता है।[40] जिस तरह कई बार लोग अपने पेशों के बारे में कोई कहानी गढ़ लेते हैं, उसी तरह किसी समुदाय की सामूहिक स्मृति में उस पेशे से जुड़ी कहानियाँ भी हो सकती हैं। जब औपनिवेशिक शासन ने शासित प्रजा की जनगणना का काम हाथ में लिया तो लोगों द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली सूचनाओं को सरकारी कर्मचारियों ने तथ्य के रूप में संगृहीत किया। इस प्रकार औपनिवेशिक शासन में सूचना का ज्ञान में और ज्ञान का सामान्य तथ्यों के रूप में पुनरुत्पादन होता रहा। निकोलस डर्क्स ने इस परिघटना को परम्परा के पाठ्यकरण (टेक्सचुएलाइज़ेशन ऑफ़ ट्रेडिशन) की संज्ञा दी है।[41] क्रुक का मानना है कि ये जातियाँ अपने विशिष्ट कार्यों के कारण ही इस नाम से जानी जाती हैं। उन्होंने इन जातियों का वर्गीकरण ऐसे ही कार्यों के आधार पर किया है।[42] 1981 की जनगणना के समय इन जातियों में अपनी अलग पहचान को लेकर सजगता पैदा हो चुकी थी और वे इस बात पर ज़ोर देने लगे थे कि उन्हें बंसफोर, धरकार आदि जातियों में विषेशीकृत किया जाए।[43] जनगणना करने वालों को अपने बारे में जानकारी देने के साथ उन्होंने यह भी बताया कि वे अन्य समूहों से किस प्रकार अलग हैं या इन समूहों से उनके रीति-रिवाज़ किस मायने में समानता या असमानता प्रदर्शित करते हैं।[44] औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड से परिचालित विमर्शों ने दलितों को चोर, अपराधी और कामचोर सिद्ध करने का प्रयास किया। इस क़वायद के ज़रिये औपनिवेशिक सत्ता ख़ुद को उच्च नैतिक धरातल पर स्थापित करना और इन श्रमजीवी समुदायों का आर्थिक और राजनीतिक अभिभावक घोषित करना चाहती थी। इसके लिए दलितों की हीन दशा को अतिरंजित ढंग से पेश करना ज़रूरी था। यह काम सबसे पहले उन औपनिवेशिक प्रशासकों ने किया जो मानवशास्त्री भी थे। बाद में इन्हीं बौद्धिक परम्पराओं में प्रशिक्षित भारतीय मनीषा भी इसी लीक पर चलने लगी। पिछड़े और दलित समूहों में शामिल जातियों को आपराधिक समुदाय में शामिल किया जाने लगा।[45] इस प्रवृत्ति के कारण ऐसे समुदाय सामाजिक अलगाव का शिकार होने लगे और उन्हें संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक बहिष्करण की यह आधुनिक निर्मिति इन समुदायों के लिए बहुत विनाशकारी साबित हुई। उल्लेखनीय है कि औपनिवेशिक दस्तावेज़ों और अकादमिक संदर्भों में इस बात का बार-बार ज़िक्र किया गया कि इन समुदायों का आत्मनिर्भर ग्रामीण व्यवस्था से एक घनिष्ठ रिश्ता था। बंसोड़ों के बारे में कहा गया है कि वे ईमानदारी से रहते थे और उनके काम को नीची निगाह से नहीं देखा जाता था।[46] ग़ौरतलब है कि बंसोड़ों के बारे में लिखते हुए डी.एन. मजूमदार ने उन्हें आपराधिक समुदाय (क्रिमिनल ट्राइब) वाले अध्याय में रखा

---

[40] के.एस. सिंह (1995), *द शेड्यूल्ड कास्ट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 164 तथा 437.

[41] निकॉलस बी. डर्क्स (2003), *कास्ट्स ऑफ़ माइंड : कोलोनियलिज़्म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया*, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली : 81.

[42] डब्ल्यू. क्रुक (1974), *ट्राइब्स ऐंड द कास्ट्स ऑफ़ द नॉर्थ वेस्टर्न इण्डिया*, खण्ड 1, कोस्मो पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली .

[43] डब्ल्यू. क्रुक (1974) : 173.

[44] डब्ल्यू. क्रुक (1974) : वही.

[45] गणेश नारायण देवी वग़ैरह (2013), *नैरेटिंग नोमैडिज़्म: टेल्स ऑफ़ रिकवरी ऐंड रेज़िस्टेंस*, रॉटलेज़, नयी दिल्ली : 4-5.

[46] डी.एन. मजूमदार (1944), *द फ़ॉर्च्यून्स ऑफ़ प्रिमिटिव ट्राइब्स*, युनिवर्सल पब्लिशर्स लिमिटेड, लखनऊ : 188.

है।[47] औपनिवेशिक भारत में जाति को लेकर क्या समझ थी— इस मामले में 1931 की जनगणना एक महत्त्वपूर्ण मुकाम की तरह उभरती है। इसके अंत में जो परिच्छेद दिये गये हैं, उनमें से एक परिच्छेद बहिष्कृत जातियों (एक्सटीरियर कास्ट्स) का भी है। इस परिच्छेद में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि पूर्वी भारत की बहिष्कृत जातियाँ आत्मनिर्भर हैं और उन्हें किसी भी तरीक़े से बहुत ग़रीब नहीं कहा जा सकता।[48] इसमें वे जातियाँ भी शामिल हैं जिन्हें मजूमदार या उनके समकालीन विद्वान अपराधी जातियों की श्रेणी में रख रहे थे।[49] इसमें बाँस का काम करने वाली जातियाँ जैसे बंसफोर, बंसोड़, धरकार, डोम, डोम्बो, पटनी और वंसफोडा को एक ही स्थान पर रखा गया है।[50]

नंदिनी गुप्तू ने बीसवीं शताब्दी के उत्तर भारत के बनारस, कानपुर, लखनऊ और इलाहाबाद के बारे में लिखा है कि इस दौरान इन शहरों में दलितों की एक नयी पहचान उभर रही थी। वे बताती हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अस्पृश्य जातियाँ ग्रामीण क्षेत्रों से बनारस, कानपुर, लखनऊ और इलाहाबाद जैसे शहरों की ओर प्रवासित हो रही थीं। शहरों के विस्तार के कारण इन जातियों को वहाँ घरेलू और छोटे-मोटे काम मिलने लगे थे और उन्होंने शहरों के भौगोलिक सीमांतों पर बसना शुरू कर दिया था।[51]

III

अस्पृश्यता, अपवंचना और सामाजिक सीमांत

ऐतिहासिक रूप से देखें तो आज बाँस का काम करने वाली बंसोड़ जैसी जातियों का बहिष्करण उत्तर-औपनिषदिक काल में ही शुरू हो गया था। 600 ई.पू. से लेकर 200 ई.पू. के बीच में गंगा घाटी में लोहे के बढ़ते प्रयोग, अर्थव्यवस्था के विस्तार, अधिशेष उत्पादन और आर्थिक असमानता से एक स्तरीकृत समाज तथा वर्ण-जाति व्यवस्था प्रशस्त हुई।[52] यह बात आपस्तम्ब, बौधायन, गौतम और वशिष्ठ के धर्मसूत्रों से स्पष्ट होती हैं जिनमें जाति शब्द 'कास्ट' के अर्थ में बार-बार प्रयुक्त हुआ है।[53] इन ग्रंथों में शूद्र वर्ण में शामिल जातियों के प्रति एक स्पष्ट असम्मानजनक दृष्टिकोण गहराता हुआ देखा जा सकता है।

द्वितीय नगरीकरण (600-300 ई.पू) के दौरान गंगा घाटी में स्थायी बस्तियों और कृषि के विस्तार ने पशुपालन को बढ़ावा दिया जिसके प्रमाण पाणिनि की *अष्टाध्यायी* और *विनय* ग्रंथों में मिलते हैं।[54] इस दौर में राज्य के ढाँचे के साथ नगर भी अस्तित्व में आ रहे थे।[55] अब मृत पशुओं के शवों को कहीं भी ऐसे ही नहीं छोड़ा जा सकता था। इस ज़रूरत को पूरा करने के लिए मृत पशुओं को बस्ती के बाहर ले जाने और उनकी खाल उतारने वाले चर्मकारों के पेशे को अपवित्र पेशा माना गया और उन्हें अस्पृश्य घोषित कर दिया गया।

---

[47] वही.

[48] *सेंसस ऑफ़ इण्डिया* (1986), खण्ड 1, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली : 486.

[49] वही.

[50] वही : 490.

[51] नंदिनी गुप्तू (2014), 'कास्ट ऐंड लेबर : अनटचेबल सोशल मूवमेंट इन अर्बन उत्तर प्रदेश पद अर्ली ट्वेंटीथ सेंचुरी', पीटर रॉब (सम्पा.), *दलित मूवमेंट्स ऐंड द मीनिंग ऑफ़ लेबर इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 105-32.

[52] विवेकानंद झा (1997), 'अनटचेबिलिटी ऐंड सोशल जस्टिस : अर्ली नॉर्थ इण्डियन पर्सपेक्टिव', *सोशल साइंटिस्ट,* अंक 25 : 21.

[53] रणवीर चक्रवर्ती (2012), *भारतीय इतिहास: आदिकाल—प्राचीनतम पर्व से 600 ईस्वी तक,* अनुवाद: उमाशंकर शर्मा ऋषि, ओरिएंट-ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली : 11-12.

[54] *विनय पिटक,* अनुवाद: टी.डब्ल्यू रीज़ डेविड्स तथा एच. ओल्डेनबर्ग, सैक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, भाग 13, 17 और 20, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, हिंदी अनुवाद: राहुल सांकृत्यायन : 1822-25.

[55] रामशरण शर्मा (2010), पुनर्मुद्रण, *मध्य गंगा क्षेत्र में राज्य की संरचना* , अंग्रेज़ी से अनुवाद: मंगलनाथ सिंह, ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली : 81

भारत आने वाले विदेशी यात्रियों के विवरणों से पता चलता है कि भारत में अस्पृश्यता का प्रसार काफ़ी व्यापक हो चुका था। फ़ाह्यान, ह्वेनसांग और अल-बरूनी ने इसके बारे में काफ़ी लिखा है। ग्यारहवीं शताब्दी में भारतीय उपमहाद्वीप में महमूद गज़नवी के साथ आये हुए अरबी दार्शनिक, इतिहासकार और गणितज्ञ अबू रेहान मुहम्मद इब्न अहमद अल-बरूनी ने भारतीय समाज, विशेष कर उत्तर भारत के समाज पर अपना प्रामाणिक विवरण *किताब-उल-हिंद* नाम से लिखा। अल-बरूनी हमें सूचित करते हैं कि समाज में शूद्रों के बाद वे लोग आते हैं जिन्हें अंत्यज कहा जाता है। वे विभिन्न प्रकार के सेवा कार्य करते हैं और उनकी गणना किसी भी जाति में नहीं होती, बल्कि उन्हें किसी विशेष शिल्प या पेशे का सदस्य माना जाता है। उनकी आठ श्रेणियाँ हैं और उनमें धोबी, चमार, जुलाहों को छोड़ कर जिनके साथ कोई भी किसी प्रकार का नाता नहीं रखना चाहता। शेष आपस में स्वतंत्रतापूर्वक विवाह करते हैं। ये आठ शिल्पी हैं— धोबी, जूता बनाने वाले, बाज़ीगर, टोकरीसाज़ और सिपरसाज़, नाविक, मछुआरा, बहेलिया और जुलाहा।[56] ग़ौरतलब है कि यहाँ टोकरी बनाने वालों को अछूत माना गया है। ये टोकरीसाज़ या टोकरी बनाने वाले बंसोड़ या बंसफोर वर्ग में आने वाली जातियों के ही लोग थे। निवास-स्थान के आधार पर कुछ अस्पृश्य जातियों की बस्तियों को आज भी अपमानजनक नामों से पुकारा जाता है, जैसे कर्नाटक में हलगेरी, तमिलनाडु में चेरी और महाराष्ट्र में मंगवाड।[57] उत्तर प्रदेश में इन्हें चमार-पट्टी या चमर-टोला या पसियन-टोला कहते हैं।[58] पिछले दो तीन वर्षों से चर्चा में रही हिंदी की रचनाओं— काशीनाथ सिंह का उपन्यास *घर का जोगी जोगड़ा* और तुलसीराम की आत्मकथा *मुर्दहिया* में चमारों की बस्तियों का सामाजिक भूगोल रेखांकित किया जा सकता है जहाँ एक ही गाँव के अंदर एक दूसरी दुनिया बसी दिखती है।



धरकारों ने भी समय-समय पर अपनी माँगों को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया है। उनकी माँगें दो प्रकार की हैं। एक तो वे शहरों में स्थायी रूप से बसे रहना चाहते हैं, जबकि उन्हें अक्सर शहर से बाहर किया जाता रहा है। उन्हें शहर की सुंदरता में एक अवांछित वस्तु समझा जाता है।

---

[56] *भारत : अल-बरूनी* (2003) : क़यामुद्दीन अहमद की भूमिका तथा टिप्पणियों सहित सम्पादन (ई.सी. सखाऊ के अंग्रेज़ी अनुवाद अलबरूनीज़ इण्डिया के संक्षिप्त संस्करण का हिंदी अनुवाद), नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली : 41.

[57] गोपाल गुरु एवम् सुंदर सुरक्काई (2012), *द क्रैक्ड मिरर: एन इण्डियन डिबेट ऑन एक्सपीरिएंस ऐंड थियरी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 212.

[58] हीरा सिंह (2014), *रिकास्टिंग कास्ट: फ़्रॉम द सैक्रेड टू द प्रोफ़ेन,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली : x.

IV

बाँस : नियोजित बेदख़ली की दास्तान

दैनिक जीवन की बुनियादी ज़रूरतों से सीधे जुड़े होने के कारण बाँस का काम धरकारों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 1950-60 के दौर में एक बाँस का दाम लगभग पाँच रुपये था और वह आसानी से मिल भी जाता था । अब कीडगंज की बाँस मंडी में 25 फुट का कटा-छँटा बाँस 170 रुपये से भी ज़्यादा का मिलता है। मुझे 1936 में प्रेमचंद द्वारा लिखे गये उपन्यास *गोदान* का दमड़ी बंसोड़ याद आता है जिसने होरी से मात्र 25 रुपये प्रति 100 बाँस की दर से 50 बाँस ख़रीदे थे। और यह दाम भी एक प्रकार से ज़्यादा था क्योंकि दमड़ी ने होरी से बाँस इसलिए ख़रीदे थे कि उसका गाँव शहर से नज़दीक था। यहाँ के धरकार सीढ़ी, छोटी और हलकी आल्मारियाँ, डलिया, बटुए और टिकठी बनाते हैं। वे रोज़ कुँआ खोद कर रोज़ पानी पीने वाली स्थितियों में रह रहे हैं। लगभग 35 साल के मनोज कहते हैं कि 'बाँस ख़रीदने जाओ तो मिलता नहीं है और बेचने जाओ तो बिकता नहीं है।'[59] बाँस का दाम जितनी तेज़ी से चढ़ा है उतनी तेज़ी से बाँस के उत्पादों का दाम नहीं बढ़ा है। नवरात्रि के महीने में दुर्गापूजा के पण्डालों के निर्माण में बाँस का बहुतायत से इस्तेमाल किया जाता है, इसलिए इस महीने में बाँस महँगा हो जाता है। इसके अतिरिक्त संगम के मेले के अवसर और चुनाव के वर्ष में भी बाँस महँगा हो जाता है। 2012 में उत्तर प्रदेश में होने वाले विधानसभा चुनाव बंसोड़ समुदाय को एक दूसरी तरह से प्रभावित कर रहे थे। बाँस उत्तर प्रदेश से बाहर भेजा जाता है। इसके अतिरिक्त बाँस के व्यापार पर स्थानीय बाँस-माफ़िया का एकाधिकार है और ग़रीब धरकार मोल-भाव करने की स्थितियों में नहीं होते हैं। इलाहाबाद शहर में धरकारों की एक अस्थायी बस्ती हाथी पार्क के किनारे पर भी है। यहाँ रहने वाले बाशिंदों में 55 वर्षीय खटाईलाल हैं।[60] छह साल पहले जौनपुर में जब सद्भावना पुल बन रहा था तो उनकी लगभग एक बीघे ज़मीन अधिगृहीत कर ली गयी। क्षतिपूर्ति के रूप में उन्हें मात्र 12,000 रुपये मिले थे जिसमें से कुछ बेटी के विवाह में ख़र्च कर दिये और बाक़ी पैसों से अपना क़र्ज़ चुकाया। भूमि अधिग्रहण और आधुनिक विकास की वर्तमान प्रक्रिया हाशिये के समूहों को कितनी बुरी तरह से प्रभावित करती है— खटाईलाल और उनका परिवार इसका एक उदाहरण है। अब खटाईलाल बेघर-बार थे और इसी कारण अपने भाँजे के साथ इलाहाबाद चले आये। इसी बीच खटाईलाल को टीबी हो गयी। उनका बाँस का काम जब बिल्कुल ठप पड़ने लगा तो उनकी पत्नी सुशीला को आगे आना पड़ा। सुशीला बहुत ऊर्जावान महिला है। वह अपने 12 वर्षीय बेटे सोनू के साथ मुट्ठीगंज की बाँस मण्डी से ठेले पर बाँस लदवा कर लाती है और हाथी पार्क के धरकारों की तरह बाँस से बनने वाली तमाम चीज़ों का निर्माण करती हैं। सोनू की उम्र 12 वर्ष की है। अगर वह स्कूल जा रहा होता तो कक्षा छह या सात का छात्र होता। सोनू के माता-पिता की सामाजिक-आर्थिक दशाएँ ऐसी नहीं थीं कि वे उसे स्कूल भेज सकें, यह बात सोनू को भी ज्ञात है। सोनू ने महज़ नौ साल की उम्र में कुल्हाड़ी, बांका और बाँस छीलने वाला चाकू थाम लिया। सुशीला अपने बेटे सोनू के साथ मिल कर हर दिन लगभग 150 रुपये कमा लेती हैं जिसमें पूरे परिवार की ज़रूरतों के साथ खटाईलाल की दवा का ख़र्च भी शामिल है।[61] मैं सुशीलाजी से कहता हूँ कि क्या उन्हें बाँस से संबंधित कोई गीत याद है? इस पर आरम्भिक झिझक के साथ वे कहती हैं कि हाड़-तोड़ मेहनत ने सारे गीत भुला दिये हैं, लेकिन अंतत: एक गीत सुनाती हैं जिसे हमने लेख के

---

[59] कीडगंज में 20 अगस्त से 28 अगस्त के दौरान किया गया फ़ील्डवर्क.

[60] वही.

[61] वही.



देशी बाँस पतला होता है। इससे लम्बी और हल्की सीढ़ियाँ बनती हैं। टिखठी बनाने में भी इसी बाँस का उपयोग किया जाता है। लोर का हर भाग उपयोगी होता है। इस बाँस के सबसे नीचे वाले भाग से दौरी बनती है। बीच के भाग से चटाई और सबसे ऊपर के भाग से डोलची, टँगना आदि बनता है।

उपोद्‌घात के रूप में रखा है। इस गीत में भौतिक वस्तुओं के प्रति जिस तरह की निस्संगता व्यक्त की गयी है वह वास्तव में उन परिस्थितियों की देन है जिसमें सुशीला और उनके जैसे लोग धकेल दिये गये हैं। यह कोई चुना हुआ वैराग्य नहीं है। जब हाड़-तोड़ मेहनत के बावजूद मुश्किल से दो जून का भोजन भी न जुट पाए तो व्यक्ति अपने आप ही इस प्रकार के वैराग्य की ओर उन्मुख होने लगता है।

इस समुदाय के लोगों की स्थिति गाँवों और क़स्बों में भी अच्छी नहीं है। जब प्रतापगढ़, सुल्तानपुर, जौनपुर या घोसी के धरकार और बंसोड़ इलाहाबाद शहर आते हैं तो शहर में उन्हें जगह नहीं मिलती है। भारत के बड़े शहरों की तरह दूसरे और तीसरे स्तर के शहर भी प्रवासियों के लिए आक्रामक होते गये हैं।[62] गाँवों से रोज़गार की तलाश में जब वे शहर में आते हैं तो ख़ुद को शहर के लेबर चौराहों पर खड़ा पाते हैं।[63] धरकार बाँस का काम जानने के कारण इलाहाबाद शहर में न बस कर शहर से पंद्रह से पच्चीस किलोमीटर की परिधि में कहीं अस्थायी रूप से बस जाते हैं और वहीं से अपनी जीविका चलाने का प्रयास करते हैं। इलाहाबाद ज़िला मुख्यालय से पच्चीस किलोमीटर दूर सहसो बाईपास के पास भोपतपुर गाँव और सहसो से फूलपुर जाने वाली पक्की सड़क पर एक बाग़ पड़ता है। इस समुदाय के यहाँ रहने वाले लोग प्रत्येक सप्ताह बाहर से बाँस ख़रीदकर लाते हैं। गाँव जाकर बाँस चुनकर उसे काट कर लाने का कार्य पुरुष करते हैं। सबसे अच्छा बाँस 'लोर' होता है। यह मोटा, पोपला और लम्बा होता है। इसे काटना-चीरना आसान रहता है और इसे मनचाहे आकार में मोड़ा जा सकता है। देशी बाँस पतला होता है। इससे लम्बी और हल्की सीढ़ियाँ बनती हैं। टिखठी बनाने में भी इसी बाँस का उपयोग किया जाता है। लोर का हर भाग उपयोगी होता है। इस बाँस के सबसे नीचे वाले भाग से दौरी बनती है। बीच के भाग से चटाई और सबसे ऊपर के भाग से डोलची, टँगना आदि बनता है। एक दौरी तीन-चार दिन में बनती है। इसमें स्त्री-पुरुष दोनों भाग लेते हैं। पहले दिन बाँस को चीर कर सार निकाला जाता है। इस काम को पुरुष करते हैं। दूसरे दिन सार में से पत्ती निकालते हैं। तीसरे दिन पत्ती से चटाई बुनी

[62] रमाशंकर सिंह तथा विभूति नारायण पाण्डेय (2012), 'काम की तलाश में', *हाशिये की आवाज़*, वर्ष 7, अंक 4(अप्रैल) : 29-32.

[63] विभूति नारायण पाण्डेय, 27 जुलाई, 2013 को गोविंद वल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद में *फ़ोर्स्ड माइग्रेशन ऑफ़ वर्कर्स: अ स्टडी ऑफ़ लेबर चौराहाज़ इन उत्तर प्रदेश* विषय पर पीएच-डी का प्रस्तुतीकरण.

जाती है। ये दोनों काम महिलाएँ करती हैं। चौथे दिन दौरी बनती है और उसके बाद बारी की बँधाई होती है। यह काम पुरुषों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार बाँस से रोज़ी-रोटी कमाने में स्त्री और पुरुष बराबर भाग लेते हैं। इस बाग़ में लगभग दो दर्जन झोपड़ियाँ हैं। इनमें आज़मगढ़ और मऊ से कई पीढ़ी पहले आये वेनवंसी धरकार रहते हैं। इनकी परिस्थितियाँ भी हाथी पार्क चौराहे पर स्थित अपने भाई-बंधुओं से बेहतर नहीं है। इस बस्ती में लगभग 35 बच्चे हैं। चार पाँच बच्चों को छोड़कर प्रायः अधिकांश बच्चे स्कूल जाने की उम्र के हैं लेकिन उनमें कोई बच्चा स्कूल नहीं जाता।[64] सहसो के धरकार नज़दीकी गाँवों जैसे फूलपुर, बीबीपुर और बादशाहपुर से बाँस ख़रीदकर लाते हैं। इससे वे दौरी, झाबा, झपिया, चिक और पंखा आदि बनाकर बेचते हैं। सहसो के रामचंदर धरकार की पत्नी इंदु 33 वर्ष की हैं। दलित समुदायों की करोड़ों बालिकाओं की तरह उनहें पढ़ने-लिखने का मौक़ा नहीं मिला। फिर भी इंदु जागरूक हैं। उनका नैहर मऊ ज़िले के कोल्हारे गाँव में है। विवाह के बाद वे भी अपने पति के साथ इसी बाग़ में आयीं और बाँस का काम करने लगीं। वे अपने मायके में भी यही काम करती थीं। वे एक मुहावरे से अपनी बात स्पष्ट करती हैं— धोबी कय बिटिया न नइहरे सुख न ससुरे सुख (धोबी की बेटी को न तो मायके में सुख है और न ससुराल में सुख है। उसे दोनों जगहों पर कपड़े धोने की मजबूरी है)। वे बताती हैं कि पहले बाँस सस्ता मिलता था। उन्हें याद है कि उनके बचपन में पूरा बाँस पंद्रह रुपये का मिल जाता था। फिर गाँवों में बाँस के बड़े व्यापारी दिखने लगे। शहर से व्यापारी आकर कोठ का कोठ बाँस काट ले जाने लगे। यह बाँस पेपर मिल में जा रहा था। टेंट-हाउसों के प्रसार के कारण भी बाँस की खपत में इजाफ़ा हुआ है।[65]

कर्नाटक में बाँस के जंगलों के क्षरण से संबंधित एक अध्ययन से पता चलता है कि 1980 के दशक में राज्य सरकार द्वारा काग़ज़ की मिलों को एक रुपया प्रति टन की रियायती दर से बाँस की आपूर्ति की जा रही थी। इसी बीच टोकरी बुनने वालों को अपनी ज़रूरत का बाँस खुले बाज़ार से ख़रीदना पड़ता था, जिसमें बाँस की प्रचलित दर पाँच हज़ार रुपये प्रति टन थी। इतनी रियायत की पेशकश के कारण, और साथ ही यह सोचकर कि पता नहीं यह रियायत कब तक चलेगी, काग़ज़ मिलों के लोग जंगलों पर टूट पड़े और बाँस की कोठियाँ देखते-देखते ग़ायब होने लगीं।[66]

इसके साथ इस तथ्य को भी रेखांकित किया जाना आवश्यक है कि आधुनिक तकनीक का किसी समुदाय की जीविका और अस्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी में उद्योगीकरण ने पूरे के पूरे समुदायों को रोज़ी-रोज़गार विहीन बना कर उनका सामर्थ्य और सम्मान छीन लिया। आज़ादी के बाद भी इन समुदायों की स्थिति में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं आया। एक तरह से यह पूर्व-निश्चित था क्योंकि आधुनिकता की ओर बढ़ रहा हमारा राष्ट्र अपने दैनिक जीवन में भी आधुनिक दिखना चाहता था। हमारे समाज के बहुसंख्यक लोगों ने धीरे-धीरे उन सभी चीज़ों का त्याग कर दिया जो उन्हें परम्परा में मिली थी। उसे आधुनिक कारख़ानों में बनी चीज़ें ज़्यादा लुभा रही थीं। इस प्रक्रिया में निजी और सार्वजनिक जगहों से बाँस की बनी चीज़ें ग़ायब होने लगी। इस्पात की बनी अलमारी ने घर-घर दिखने वाली बाँस की छोटी-छोटी अलमारियों को ग़ायब कर दिया। बाँस की टोकरी को प्लास्टिक की टोकरी ने प्रतिस्थापित कर दिया और शादी-विवाह के अवसर पर दिये जाने वाले बाँस के झाबा-झपिया को दफ़्ती के बने मिठाई वाले डिब्बों ने बाहर कर दिया। इस प्रकार इन वस्तुओं की माँग भी कम हो गयी। इससे बाँस का काम करने वाले समुदाय बुरी तरह से

[64] दिनांक 19.4.2013 से 10.5.2013 तक किया गया क्षेत्र-सर्वेक्षण.

[65] वही.

[66] रामचंद्र गुहा (2008): 197, एस.एन. प्रसाद और बाँस के बारे में अन्य महत्त्वपूर्ण जानकारी देने के लिए मैं रामचंद्र गुहा का आभारी हूँ.

प्रभावित हुए। डी. आर. नागराज ने इस प्रक्रिया को टेक्नोसाइड कहा है।[67]



बाँस को अब लघु वनोपज के रूप में सरकारी रूप से वर्गीकृत किया गया है। अब वनों पर आश्रित समुदाय इसे काट सकते हैं, और अपने दैनिक जीवन की ज़रूरतें पूरी कर सकते हैं। वनों पर राज्य के अधिकाधिक क़ब्ज़े के विरुद्ध उन समुदायों में काफ़ी आक्रोश था जिनकी जीविका में वन और बाँस एक केंद्रीय स्थान रखते हैं।

संगठित राजनीति के नक़्क़ारख़ाने में

भारतीय वन सर्वेक्षण 1987 से प्रति वर्ष वनों की स्थिति के बारे में एक रिपोर्ट प्रकाशित करता है। 2011 की रिपोर्ट में बाँस के बारे में पहली बार कोई आधिकारिक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया। ऐसा बाँस के बढ़ते महत्त्व और इसको लेकर हो रहे हक़दारी आंदोलनों के कारण हुआ है। वन स्थिति रिपोर्ट–2011 के आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार देश में बाँस की 125 देशी प्रजातियाँ हैं जिन पर करोड़ों लोगों का जीवन आश्रित है।[68] इस अभिलेख के अनुसार भारत में 139,577 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर बाँस के जंगल हैं। उत्तर प्रदेश में बाँस का क्षेत्र मात्र 1,313 वर्ग किलोमीटर है।[69] बाँस को अब लघु वनोपज के रूप में सरकारी रूप से वर्गीकृत किया गया है। अब वनों पर आश्रित समुदाय इसे काट सकते हैं, [70] और अपने दैनिक जीवन की ज़रूरतें पूरी कर सकते हैं। वनों पर राज्य के अधिकाधिक क़ब्ज़े के विरुद्ध उन समुदायों में काफ़ी आक्रोश था जिनकी जीविका में वन और बाँस एक केंद्रीय स्थान रखते हैं। आदिवासी आंदोलनों ने इस माँग को आगे बढ़ाया कि उन्हें जंगलों पर अधिकार मिले। इसे देखते हुए और नक्सल आंदोलन के बढ़ते प्रभाव को सीमित करने के लिए मई 2011 में केंद्रीय पर्यावरण एवम् वन मंत्री जयराम रमेश ने मेंढा, लीखा, गढ़चिरौली, छत्तीसगढ़ में बाँस को वनाधिकार अधिनियम, 2006 के तहत लघु वनोपज घोषित किया, [71] लेकिन उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में इस अधिकार का कोई ख़ास मतलब नहीं है क्योंकि यहाँ बाँस के जंगलों का क्षेत्रफल बहुत ही कम है। ऐसे में उत्तर प्रदेश में बाँस से जीविका चलाने वाले समुदायों का जीवन संकट में पड़ जाता है। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि भारत में बढ़ती नक्सल समस्या को समाप्त करने के लिए जो सरकारी दृष्टिकोण अपनाया जाता

---

[67] डी.आर. नागराज (2010), *द फ़्लेमिंग फ़ीट ऐंड अदर एसेज़ : द दलित मूवमेंट इन इण्डिया* , परमानेंट ब्लैक, रानीखेत : 113, 179–80

[68] *इण्डिया स्टेट ऑफ़ फ़ॉरेस्ट रिपोर्ट 2011,* फ़ॉरेस्ट सर्वे ऑफ़ इण्डिया की वेबसाइट से 20 दिसम्बर, 2012 को डाउनलोड किया गया.

[69] वही : 57–61.

[70] http://www.hindu.com/2011/04/29/stories/2011042965731000.htm 26.06.2013 को देखा गया.

[71] http://www.business-standard.com/article/opinion/sunita-narain-is bamboo-a-tree-or-a-grass-110121300046 1.html 20.05.2013 को देखा गया.

रहा है, वह प्रभावित क्षेत्रों में आधारभूत संरचनाओं के निर्माण, युवाओं को रोज़गार और शिक्षा तक पहुँच उपलब्ध कराने से प्रेरित रहा है। मैं इन कार्यक्रमों की गुणवत्ता या आधारभूत औचित्य पर कोई मूल्यपरक निर्णय नहीं थोपना चाहता, लेकिन यह स्पष्ट है कि उत्तर प्रदेश की अनुसूचित जातियों में सर्वाधिक ग़रीब लोगों को कभी ऐसी समस्या नहीं माना गया कि भारतीय राष्ट्र-राज्य को उन पर अलग से ध्यान देना पड़े। लिहाज़ा, वह उन्हें ज़रूरी रियायत तथा अधिकार प्रदान करने के मामले में उदासीन ही रहा है।

इसकी वजह यह है कि लोकतंत्र और उसके साथ प्रतिरोध की राजनीति में संख्या बल बहुत मायने रखता है। 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी' का नारा जहाँ बड़े समूहों में जोश भरता है, वहीं प्राय: छोटे सामाजिक और राजनीतिक समूहों की गतिशीलता को बाधित करता है। बंसोड़, बंसफोर और धरकार जनसंख्या के हिसाब से अपेक्षाकृत बहुत छोटा समूह है।[72] वनों और वनोपजों को लेकर जो आंदोलन हुए हैं, उनमें गोलबंदी, नेतृत्व और संख्या बल का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अगर किसी जाति या जनजाति की संख्या बल कम रहा है तो उसे एक बड़ी पहचान के अंदर फ़िट कर लिया गया है। न्यूनतम मानवीय गतिविधियों वाले दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में पाए जाने वाले समुदाय हों या नदी-घाटियों में विकसित मत्स्य संस्कृति वाले समुदाय— ये सभी अपने दावे की पुष्टि के लिए इनके आदिम अनुरक्षक और हक़दार (क्लेमेंट) होने का दावा प्रस्तुत करते रहे हैं। वे इसमें कभी-कभार सफल भी हुए। पेसा (पंचायती राज इक्सटेंशन टू शेड्यूल्ड एरियाज़), 1996 और वनाधिकार क़ानून दिखाते हैं कि हाशिये पर पड़े समूह भी अपने लिए बेहतर क़ानून हासिल कर सकते हैं।[73] उत्तर प्रदेश में इस समूह में अभी शिक्षा का स्तर बहुत निम्न है और प्रशासनिक सेवाओं में उनकी भागीदारी नगण्य है।[74] उनके अपने आंगिक नेता (आर्गेनिक लीडर) भी नहीं हैं जो उनकी आवाज़ को प्रदेश और देश के राजनीतिक नेतृत्व के समक्ष रख सकें। किसी भी बड़े प्रतिरोध आंदोलन के लिए गोलबंदी ज़रूरी होती है। यदि किसी समूह की गोलबंदी कम है तो राज्य उसकी माँगों की उपेक्षा या उनमें कटौती कर सकता है।[75]

धरकारों ने भी समय-समय पर अपनी माँगों को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया है। उनकी माँगें दो प्रकार की हैं। एक तो वे शहरों में स्थायी रूप से बसे रहना चाहते हैं, जबकि उन्हें अक्सर शहर से बाहर किया जाता रहा है। उन्हें शहर की सुंदरता में एक अवांछित वस्तु समझा जाता है। उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे सार्वजनिक जगहों को ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से घेर लेते हैं। प्रशासन उनकी अस्थायी बस्तियों को जब-तब उजाड़ता रहता है। इस तरह देखा जाए तो धरकार शहर में बने रहने के लिए हर समय एक वैध पहचान की तलाश में जुटे रहते हैं। मतदाता पहचान-पत्र बनवाने में सफल होते ही वे राजनीतिक रूप से मूल्यवान हो उठते हैं। चुनाव लड़ने वाले स्थानीय प्रभुत्वशाली समूहों और हाशिये के समाजों का प्रतिनिधित्व करने वाले समूहों के लिए उनका शहरों में रहना आवश्यक हो जाता है। इसके एवज़ में उन्हें यहाँ-वहाँ बसने का मौक़ा तो दे दिया जाता है, परंतु कुछ समय बाद उन जगहों को फिर उजाड़ दिया जाता है। यह एक खेल सा है जो निरंतर चलता

---

[72] हरिकेश मण्डल वग़ैरह (2005), *इण्डिया: एन इलेस्ट्रेटेड एटलस ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्ट्स,* एंथ्रोपॉलिजकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, कोलकाता: 57.

[73] कमल नयन चौबे (2012), 'दो प्रगतिशील क़ानूनों की दास्तान: राज्य, जन-आंदोलन और प्रतिरोध', *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति* , वर्ष 1, खण्ड 1, अंक 1 (जनवरी-जून) : 168.

[74] रमाशंकर सिंह द्वारा सूचना के अधिकार अधिनियम, 2005 द्वारा प्राप्त की गयी सूचना. पत्रांक- एफ़ 22012/1 ए/2011/ए आई एस-1/ गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया, मिनिस्ट्री ऑफ़ पर्सनल, पब्लिक ग्रीवांसेज़ ऐंड पेंशन, 19 सितम्बर 2011.

[75] कमल नयन चौबे (2012) : 170-71.

रहता है। चुनावी राजनीति और बेघरों की यह पारस्परिकता बनी रहती है।[76] धरकारों की दूसरी माँग यह है कि उन्हें बाँस आसानी से मिले और बाँस के व्यापार से माफ़िया का क़ब्ज़ा हटे। इससे बाँस सस्ता होगा और उनकी लागत कम हो जाएगी। ज़ाहिर है कि इससे उनकी आमदनी में इज़ाफ़ा होगा। आज़मगढ़ के हीरालाल ने इन माँगों को 2000 में आवाज़ दी थी। हीरालाल डोम जाति से संबंध रखते थे और बाँस का काम करने वाले समुदायों की विपन्नता को अपने गीतों का विषय बनाकर गाया करते थे। लेकिन समूह की गोलबंदी का काम अभी किसी मुक़ाम पर नहीं पहुँच पाया है। फिर भी इससे यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि उन्हें कभी गोलबंद किया ही नहीं जा सकेगा। उन्हें जब भी मौक़ा मिलता है तो वे अपनी आवाज़ नागर समाज और नागरिक मंचों पर ज़रूर बुलंद करते हैं। 2013 में गोविंद वल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद में लगातार दो संगोष्ठियों का आयोजन किया गया जिसमें इलाहाबाद के नागर समाज, प्राध्यापक तथा राजनीतिक दलों के लोग शामिल हुए थे। इसमें सहसो में रहने वाले धरकारों ने भी शिरकत की थी। इस अवसर पर उन्होंने अपनी परेशानियों और जनतंत्र से अपनी अपेक्षाओं को ब्यौरेवार रखा था। उनकी बातों में निरुपायता का दुख तो था ही पर साथ ही यह विश्वास भी दिखाई देता था कि एक न एक दिन भारत का जनतंत्र उनकी आवाज़ ज़रूर सुनेगा।

सवाल यह है कि अभी इसमें और कितना वक़्त लगेगा? सहसो की इंदु शायद भारतीय राष्ट्र-राज्य से यही पूछना चाहती है।

संदर्भ :

नोट : इस लेख को सँवारने में मिली सहायता के लिए मैं इसके एक अज्ञात पूर्व-समीक्षक के साथ-साथ प्रोफ़ेसर बद्री नारायण, प्रोफ़ेसर प्रदीप भार्गव, तरुशिखा सर्वेश और कमरुल हसन का आभारी हूँ.

अश्विन देशपाण्डे (2013) *अफ़र्मेटिव एक्शन इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

आर. सी. हजारा (1982), *स्टडीज़ इन द पुराणिक रेकड्र्स ऑन हिंदू राइट्स ऐंड कस्टम्स ,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

आलोका पाराशर सेन (2004) (सम्पा.), *सबार्डिनेट ऐंड मार्जिनल ग्रुप्स इन अर्ली इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

आश्वलायन गृहसूत्र, नारायण की संस्कृत टीका सहित, अनुवाद और परिचय : एन. एन. शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नयी दिल्ली.

इलाहाबाद उच्च न्यायालय का निर्णय- Chandrika Prasad Nishad vs State Of U.P. And Others, Writ Petition No. 5018 (M/S) of 2005 with Wit Petition No. 5153 (M/S) of 2005 Chandrika Prasad Nishad and Bhola Nath Nishad vs State of U.P. and others.

उपिंदर सिंह (2008), *अ हिस्ट्री ऑफ़ एंशियेंट ऐंड अर्ली मिडीवल इण्डिया,* पियर्सन-लांगमैन, नयी दिल्ली.

उमा चक्रवती (2006), *एवरीडे लाइव्स, इवरीडे हिस्ट्री: बियोंड द किंग्स ऐंड द ब्राह्मंस ऑफ़ एंशियेंट इण्डिया,* तूलिका बुक्स, नयी दिल्ली.

एफ़. कीलहार्न (1892-1909)(सम्पा.), *महाभाष्य: क्रिटिकल एडीशन ,* गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो,बॉम्बे.

[76] सोलहवीं लोकसभा के चुनाव मार्च-मई, 2014 के दौरान गोविंद वल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान के शोध छात्रों द्वारा किया गया सर्वेक्षण. इसमें तरुशिखा सर्वेश, मनमोहन सिंह, कमरूल हसन, अनंत द्विवेदी, प्रशांत, नेहा राय, तिलक सिंह यादव, विनीत, श्वेता पाल, विकास स्वरूप और रमाशंकर सिंह शामिल थे. सर्वेक्षण का संयोजन प्रोफ़ेसर बद्री नारायण ने किया था.

ओमप्रकाश वाल्मीकि (2008), *सफ़ाई देवता- वाल्मीकि समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक पृष्ठभूमि* , राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

ऑक्सफ़र्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी (2010), आठवाँ संस्करण, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

कमल नयन चौबे (2012), 'दो प्रगतिशील क़ानूनों की दास्तान : राज्य, जन-आंदोलन और प्रतिरोध', *प्रतिमान: समय, समाज, संस्कृति,* वर्ष 1, खण्ड 1, अंक 1(जनवरी-जून).

काशीनाथ सिंह(2008), *घर का जोगी जोगड़ा,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

के. एस. सिंह(1995), *द शेड्यूल्ड कास्ट्स,* एंथ्रोपॉलिजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया एवम् ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

के. एस. सिंह (1998), *इण्डियाज़ कम्युनिटीज़,* 3 खण्ड, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

गणेश नारायण देवी एवम् अन्य (2013), *नैरेटिंग नोमैडिज़्म : टेल्स ऑफ़ रिकवरी ऐंड रेजिस्टेंस,* रॉटलेज़, नयी दिल्ली.

गृहसूत्राज, अनुवादक : एच ओल्डेनबर्ग (1981 पुनर्मुद्रित), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

गेल ओमवेट (2005), *आम्बेडकर: प्रबुद्ध भारत की ओर,* पेंगुइन इण्डिया, नयी दिल्ली.

गोपाल गुरु एवं सुंदर सुरक्काई(2012), *द क्रैक्ड मिरर: एन इण्डियन डिबेट आन एक्सपीरिएंस ऐंड थियरी* , ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

जयशंकर मिश्रा (2006, 10वाँ पुनर्मुद्रण), *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,* बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना.

डब्ल्यू. क्रूक (1974), *द ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ़ द नार्थ वेस्टर्न इण्डिया,* खण्ड 1, कॉस्मो पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

डी. एन मजूमदार (1944), *द फ़ार्च्यूनस ऑफ़ प्रिमिटिव ट्राइब,* यूनीवर्सल पब्लिशर्स लिमिटेड, लखनऊ.

डी. आर. नागराज (2010), *द फ़्लेमिंग फ़ीट ऐंड अदर एसेज: द दलित मूवमेंट इन इण्डिया,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

नंदिनी गुप्तू (2014), 'कास्ट ऐंड लेबर: अनटचेबल सोशल मूवमेंट इन अर्बन उत्तर प्रदेश पद अर्ली ट्वेंटीथ सेंचुरी', पीटर रॉब (सम्पा.), *दलित मूवमेंट्स ऐंड द मीनिंग ऑफ़ लेबर इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

निकोलस बी. डर्क्स (2003), *कास्ट्स ऑफ़ माइंड : कालोनियलिज़्म ऐंड द मेकिंग ऑफ़ माडर्न इण्डिया,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

पी. वी. काणे (1992), *धर्मशास्त्र का इतिहास,* प्रथम भाग, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ.

प्रेमचंद (2011) (पुनर्मुद्रित), *गोदान,* अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद.

पैट्रिक ओलिवल (1999) (सम्पा.), *धर्मसूत्राज : द कोड ऑफ़ एंशिएंट इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पैट्रिक ओलिवल (2005) (सम्पा.), *मनुज कोड ऑफ़ लॉ,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पैट्रिक ओलिवल (2008) (पुनर्मुद्रित) *उपनिषद्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बद्री नारायण (2011), *द मेकिंग ऑफ़ दलित पब्लिक इन नार्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बद्री नारायण (2013), 'लोकतंत्र का भिक्षुगीत: अति-उपेक्षित दलितों के अध्ययन की एक प्रस्तावना', *प्रतिमान: समय, समाज, संस्कृति,* वर्ष 1, खण्ड 1, अंक 1 (जनवरी-जून).

बद्री नारायण (2014), 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिज़र्वेशन कैटेगरीज़ इन उत्तर प्रदेश', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 49, अंक 5.

भारत : अल-बरूनी (2003) (तीसरी आवृत्ति), क़यामुद्दीन अहमद द्वारा भूमिका तथा टिप्पणियों सहित सम्पादित (ई.सी. सखाउ के अंग्रेज़ी अनुवाद अलबरूनीज़ इण्डिया के संक्षिप्त संस्करण का हिंदी अनुवाद), नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

मार्क गैलेंटर (1984), *कम्पेटिंग इक्वैलिटीज़: लॉ ऐंड बैकवार्ड क्लासेज इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस , नयी दिल्ली.

मोनियर विलियम्स (2006), *संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी : इटीमॉलिजिकॅली ऐंड फ़िलोलॅजिकॅली अरेंज्ड विद स्पेशल रेफ़रेंस टू काग्नेट इण्डो-युरोपियन लैंग्वेजेज़,* मनोहर पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

तुलसीराम (2011), *मुर्दहिया,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

तैत्तरीय संहिता (1914), अनुवादक: ए बी कीथ, 2 भागों में, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

तैत्तरीय ब्राह्मण (1871-72) ए.वेबर, इण्डियन स्टडियन, लिपज़िग.

रणवीर चक्रवर्ती (2012), *भारतीय इतिहास : आदिकाल- प्राचीनतम पर्व से 600 ईस्वी तक,* अनुवाद : उमाशंकर शर्मा

ऋशि, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली .

राधाकुमुद मुखर्जी (2004 पुनर्मुद्रित), *हिंदू सभ्यता,* अनुवाद : वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

रमाशंकर सिंह द्वारा सूचना के अधिकार अधिनियम, 2005 द्वारा प्राप्त की गयी सूचना. पत्रांक– एफ़ 22012/1 ए/2011/ए आई एस–1/ गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया, मिनिस्ट्री ऑफ़ पर्सनल, पब्लिक ग्रीवांसेज़ ऐंड पेंशन, 19 सितम्बर 2011.

रमाशंकर सिंह एवं विभूति नारायण पाण्डेय (2012), 'काम की तलाश में', *हाशिये की आवाज़,* वर्ष 7, अंक 4 (अप्रैल).

रामचंद्र गुहा (2007), *इण्डिया आफ़्टर गाँधी : द हिस्ट्री ऑफ़ वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डेमोक्रेसी,* पिकाडोर, भारत.

------- (2008), *हाउ मच शुड अ पर्सन कंज़्यूम,* पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत.

रामशरण शर्मा (1992), *शूद्रों का प्राचीन इतिहास,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

-------- (1992 क), *प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

-------- (2010 पुनर्मुद्रण), *मध्य गंगा क्षेत्र में राज्य की संरचना,* अंग्रेजी से अनुवाद: मंगलनाथ सिंह, ग्रंथ शिल्पी, नयी दिल्ली.

रामायण ऑफ़ वाल्मीकि (2008), अनुवाद : शेल्डन पोलक, न्युयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.

रिचर्ड फ़िक (2004), 'द डिस्पाइज़्ड कास्ट्स : नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज़ टाइम', आलोका पाराशर सेन (सम्पा.), *सबॉर्डिनेट ऐंड मार्जिनल ग्रुप्स इन अर्ली इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रोमिला थापर (1997, 2010), *अशोका ऐंड द डिक्लाइन ऑफ़ द मौर्याज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

वाजसनेयी संहिता, माध्यंदिन पाठ(1912), महीधर और उवट की टीका सहित, सम्पादक : वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पांसिंकर, निर्णय सागर प्रेस, बॉम्बे.

वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पांसिकर (1936) (सम्पा.), *याज्ञवल्क्य स्मृति,* निर्णय सागर प्रेस, बॉम्बे.

वासुदेव शरण अग्रवाल (2001), *भारत सावित्री : महाभारत का एक नवीन सारगर्भित अध्ययन,* सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.

विनय पिटक, अनुवाद : टी डब्ल्यू रीज़ डेविड्स ऐंड एच. ओल्डेनबर्ग, *सैक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट,* भाग 13, 17 और 20, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1822–25, हिंदी अनुवाद : राहुल सांकृत्यायन.

विवेकानन्द झा (1997), 'अनटचेबिलिटी ऐंड सोशल जस्टिस : अर्ली नार्थ इण्डियन पर्सपेक्टिव', *सोशल साइंटिस्ट,* अंक 25.

--------- (1970), 'वर्णसंकर इन धर्मसूत्राज: थ्योरी एंड प्रैक्टिस' , *जर्नल ऑफ़ द इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरिएण्ट,* भाग 13, अंक 3.

विद्याधर वामन आप्टे (1986), *अ कंसाइज़ संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी,* ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

विभूति नारायण पाण्डेय (2013), *फ़ोर्स्ड माइग्रेशन ऑफ़ वर्कर्स : अ स्टडी ऑफ़ लेबर चौराहाज़ इन उत्तर प्रदेश* इलाहाबाद विश्वविद्यालय में डी.फ़िल की उपाधि के लिए जमा किया गया शोध-प्रबंध.

वेबस्टर्स न्यू डिक्शनरी ऐंड थिसारस (1995), यूएसए. प्रमोशनल्स बुक सेल्स, इंक.

वेत्तम मनी (2002), *पुराणिक ऐनसाइक्लोपीडिया,* मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

वेलेरियन रोड्रिग्ज (2002)(सम्पा.), द *इसेंशियल राइटिंग्स ऑफ़ बी. आर. आम्बेडकर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

शतपथ ब्राह्मण, 1.1.49.19,(1964 पुनर्मुद्रित), संपादक: ए बेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज 96, वाराणसी.

शालिग्राम श्रीवास्तव (2008), *प्रयाग प्रदीप,* हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद.

सेंसस ऑफ़ इण्डिया(1986), वाल्यूम 1, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

सुखदेव थोरात (2011), *भारत में दलित: सामान्य लक्ष्य की खोज,* अंग्रेज़ी से अनुवाद : विजय कुमार पंत, सेज एवं रावत पब्लिकेशंस से संयुक्त रूप से प्रकाशित, नयी दिल्ली.

सुधा पै (2013), *दलित असर्सन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस , नयी दिल्ली.

सुरिंदर एस. जोधका(2012), *कास्ट,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस , नयी दिल्ली.

सुवीरा जायसवाल (2004), *वर्ण-जाति व्यवस्था : उद्भव, प्रकार्य और रूपांतरण,* ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली.

हिंदुस्तान, 30 मई, 2013.

हरिकेश मण्डल और अन्य (2005), *इण्डिया : एन इलस्ट्रेटेड एटलस ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्ट्स,* कोलकाता, एंथ्रोपॉलजिकल

सर्वे ऑफ़ इण्डिया.
हेनरी लुई मार्गन (2005), *एंशियेंट सोसाइटी,* ट्रांजैक्शन, न्यू जर्सी.
श्रीनिवास सरदेसाई (2009), *भारतीय दर्शन : वैचारिक और सामाजिक संघर्ष*, अनुवाद : गुणाकर मुले, संवाद प्रकाशन, मेरठ.
ऋग्वेद संहिता, सायण की टीका सहित, संपादक एफ. मैक्समूलर, 6 भागों में, 1951–57, डब्ल्यू.एच. एलेन ऐंड कम्पनी, लंदन.

फ़ील्ड वर्क :

हाथीपार्क में अक्तूबर 2010 से दिसम्बर, 2011 में किया गया क्षेत्र कार्य.
कीडगंज में 20 से 28 अगस्त, 2011 में किया गया क्षेत्र कार्य.
बनारस के नेवादा क़स्बे में 25 अप्रैल, 2013 को किया गया क्षेत्र सर्वेक्षण.
दिनांक 19 अप्रैल, 2013 से 10 मई, 2013 तक किया गया क्षेत्र–सर्वेक्षण.
मई, 2013 में घोसी, मऊ में किया गया क्षेत्र–सर्वेक्षण कार्य.
सोलहवीं लोकसभा के चुनाव के दौरान गोविंद बल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान के शोध छात्रों के एक समूह द्वारा किया गया मार्च, 2014 से मई 2014 के बीच का सर्वेक्षण.

वेब सामग्री :

http://www.hindu.com/2011/04/29/stories/2011042965731000.htm 26-06-2013 dks ns[kk x;k-
http://www.business-standard.com/article/opinion/sunita-narain-is-bamboo-a-tree-or-a-grass-110121300046_1.html20-05-2013 dks ns[kk x;kA
इण्डिया स्टेट ऑफ़ फ़ॉरेस्ट रिपोर्ट 2011, फ़ॉरेस्ट सर्वे ऑफ़ इण्डिया की बेबसाइट से दिनांक 20 दिसम्बर 2012 को डाउनलोड.